पृथ्वी एवं सूर्य में पौर्वापर्यविषयक सिद्धान्त

डॉ. रामदेव साहू
प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष
विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान, जयपुर (राज.)

सृष्टिक्रम के सन्दर्भ में संशय व्यक्त करने वाले अनेक विद्वान् आज भी पृथ्वी एवं सूर्य के पौर्वापर्य के विषय में सन्देह प्रकट करते हैं। कुछ विद्वान् कहते हैं कि पहले सूर्य उत्पन्न होता है, उसके पश्चात् पृथ्वी उत्पन्न होती है। आधुनिक विद्वान् तो ऐसा भी कहते हैं कि सूर्य से ही टूट कर इस पृथ्वी ने अपना अस्तित्व बनाया है, अतः उनके मत में भी सूर्योत्पत्ति ही प्रथमतः हुई है, पृथ्वी की उत्पत्ति उसके अनन्तर हुई है, ऐसा स्पष्ट होता है। कुछ अन्य विद्वान् भूतसृष्टि (पंचमहाभूतों की रचना को आदित्य मान कर पिण्डसृष्टि) सजीव निर्जीव पदार्थो की संरचना को पश्चाद्वर्त्ती स्वीकार कर पंच महाभूतों की उत्पत्ति के पश्चात् ही सूर्य चन्द्र आदि ग्रहों नक्षत्रों एवं तारे इत्यादि आकाशीय पिण्डों की उत्पत्ति का प्रतिपादन करते हैं। उनका कहना है कि पृथिवी तत्त्व के बिना सूर्य के घटकभूत अन्य तत्वों का पिण्डीभाव (पदार्थत्व) सम्भव नहीं है, अतः पहले पृथ्वी महाभूत भी आकाशादि महाभूतों की उत्पत्ति के क्रम में उत्पन्न हुआ। नहीं तो द्यावापृथिवी रूप त्रैलोक्य की अण्डरूप में रचना कैसे सिद्ध होगी ? त्रैलोक्य का आधा अण्ड पहले उत्पन्न नहीं हो सकता और न ही आधा अण्ड बाद में उत्पन्न हुआ ऐसा कहा जा सकता है। इस प्रकार अनेकविध विप्रतिपत्तियाँ (शंकायें) दृष्टिगोचर होती हैं। इस विषय में समालोचना को आवश्यक समझ कर पंडित मधुसूदन ओझा ने अहोरात्रवाद में कतिपय सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं, जो अवश्य चिन्तनीय प्रतीत होते हैंः-

1. महर्षि याज्ञवल्क्य का सिद्धान्त

शतपथ ब्राह्मण में इस सिद्धान्त का उल्लेख हुआ है। इसके अनुसार पहले पृथ्वी ही उत्पन्न हुई, न कि सूर्य। यह उल्लेख निम्न प्रकार हैः-

''सर्वप्रथम एक मात्र यह प्रजापति ही विद्यमान था। उसने चिन्तन किया- कैसे प्रजा उत्पन्न हो, उसने

अत्यन्त परिश्रम किया। उसने तप किया। उसने अपने मुख से अग्नि को उत्पन्न किया। चूँकि वह अग्निमुख से उत्पन्न किया गया था, अतः वह अन्नाद कहलाया। उस प्रजापति ने पुनः चिन्तन किया । इस अन्नाद को मैंने उत्पन्न तो कर दिया किन्तु इसके लिए जो अन्न चाहिए, वह तो मेरे अतिरिक्त कोई है ही नहीं, जिसे यह अग्नि खा सके। तब एक तरल पदार्थ (लार) के रूप में पृथिवी उत्पन्न हुई। उस पर न औषधियाँ थी, न वनस्पतियाँ। वे सब उसके अन्तस् में विद्यमान थीं। इसको अग्नि ने अपने ऊपरी आवरण से ढक लिया। डरे हुए उस अग्नि की महिमा अपक्रान्त हुई। वाक् (वाणी या ध्वनि) ही इसकी महिमा थी, जो अपक्रान्त हुई थी। वह अग्नि स्वयं आहुति की इच्छा करने लगा। उसने जल को उत्पन्न किया। जल में उसने तर्क किया कि यह घृत की आहुति है या पय की आहुति है। दोनों मिला कर उसने पय ही कहा।

पृथ्वी ने इस अग्निजन्य पय का अभिराधन (आत्मसात्करण) नहीं किया। वह उलझे हुए बालों के गुच्छे के समान हो गयी। उस पय ने उसमें ओषधि की इच्छा की । तब ओषधियाँ उत्पन्न हुईं। उस अग्नि ने फिर दूसरी बार जल को उत्पन्न किया, जो अग्नि में दूसरी आहुति के रूप में जाना गया। पुनः शंका हुई कि इसे घृताहुति कहा जाए या पय-आहुति। पृथ्वी ने इसका भी अभिराधन नहीं किया। उस अग्नि ने इसका हवन किया (स्वयं भक्षण कर लिया)। उससे ही यह सूर्य उत्पन्न हुआ जो सदैव तप करता रहता है। उस सूर्य से ही यह अग्नि पुनः प्रकट हुआ। जो यह प्रज्ज्वलित होता है, वह अग्नि यही है। वह चारों ओर व्याप्त हो गया। प्रजापति ने इस अग्नि का ही हवन कर प्रजा को उत्पन्न किया। प्रजापति ने ही उस अग्नि का भक्षण किया और मृत्यु से अपने को बचाया।'' (श.ब्रा. 2/2/2)

उपर्युक्त सिद्धान्त से स्पष्ट होता है कि पहले पृथ्वी उत्पन्न हुई थी। फिर ओषधियाँ (वनस्पति) उत्पन्न हुई। ओषधियों से बल या ऊर्जा कैसे सम्भव हो, यह सोच कर उस अन्नाद अग्नि ने जैसे पहले अन्न उत्पन्न किया था वैसे ही बाद में उसकी रक्षा के लिए सूर्य को उत्पन्न किया।

2. बृहस्पति का सिद्धान्त

तैत्तिरीय आदि वैदिक संहिताओं में बार्हस्पत्य सिद्धान्त का उल्लेख कहीं कहीं उपलब्ध होता है। इसके अनुसार पहले पृथ्वी आग्नेयी (अग्निमयी) ही थी। उस समय सूर्य नहीं था। यह पृथ्वी ही अग्निमयी रश्मियों का निस्सारण कर रही थी। उन अग्निमयी रश्मियों के प्रभाव से अदितिपुत्र आदित्यों का संघात (एकत्र अवस्थान या एक पिण्डीभाव) सम्पन्न हुआ। यही कारण है कि तैत्तिरीय शाखा का अध्ययन करने वाले पृथ्वी के समान रात्रि को आग्नेयी तथा अहः को ऐन्द्र स्वीकार करते हैं।

अदिति प्रकृति ही थी, इस विषय में किसी का भी विरोध नहीं है। प्रकृति का अस्तित्व पृथ्वी के बिना सम्भव नहीं है-यह वैज्ञानिक सत्य है। अतः स्पष्ट है कि अदितिरूपा प्रकृति पृथ्वी के साहचर्य से सर्वप्रथम उत्पन्न हुई। उस अदितिरूपा प्रकृति से जो द्वादश आदित्य उत्पन्न हुए, वे पृथ्वी के अन्तस् में विद्यमान अग्नि के ही बारह रश्मिपुंज थे। उनका संघात (सामूहिक पिण्ड) ही सूर्य के रूप में आविर्भूत हो सका।

अतएव पं. मधुसूदन ओझा महोदय लिखते हैंः-

'बृहस्पति के मत में अदिति से पूर्व पृथ्वी विद्यमान थी तथा उसके बाद ही द्यौः उत्पन्न हुआ था। (अहोरात्रवाद-5/10)

अर्थात् पहले समस्त त्रैलोक्य पृथ्वीमय ही था। जब सूर्य प्रकट हुआ, तब त्रैलोक्य का ऊपरी भाग द्यौसंज्ञा को प्राप्त कर सका।

3. महर्षि भरद्वाज का सिद्धान्त

महर्षि भरद्वाज का सिद्धान्त भी वैदिक संहिता ग्रन्थों में ही उल्लिखित है। ऋग्वेद संहिता के छठे मण्डल एवं दसवें मण्डल में भी इसके संकेत उपलब्ध होते हैं। इसके अनुसार पुत्र बाद में उत्पन्न होता है, माता-पिता उससे पहले अवश्य ही विद्यमान होते हैं। सूर्य के माता-पिता अदिति एवं अग्नि है। अदिति एवं अग्नि इन दोनों का आश्रय पृथ्वी ही था। क्योंकि पृथ्वी के बिना न अदिति हो सकती है और न ही अग्नि। और भी, द्यावापृथिवी के अस्तित्व के बिना वैश्वानर अग्नि भी सम्भव नहीं होती। जैसा कि कहा भी हैः-

'अहः का जो कृष्ण भाग है, वही उर्वी (पृथ्वी) है तथा जो अर्जुन (शुक्ल) भाग है वही सूर्य है। ये दोनों ही अपने अपने रजःकणों से द्युलोक एवं पृथ्वीलोक का रूप धारण करते हैं। इनसे जब रजःकण विवर्त्त को प्राप्त करते हैं तो उसके परिणामस्वरूप वैश्वानर अग्नि उत्पन्न होता है, जो अन्धकार को दूर करता है। (अहोरात्रवाद-2/54)

यह वैश्वानर अग्नि जो द्यावापृथिवी से उत्पन्न होता है, वही सूर्य का वास्तविक उत्पादयिता है। वैश्वानर अग्नि के अस्तित्व के बिना सूर्य अन्धकार को नष्ट नहीं कर सकता। ओझा महोदय ने इस मत का उल्लेख इस प्रकार किया है-

'पुत्र बाद में जन्म लेने वाला होता है, जबकि पिता को पहले जन्म लेने वाला माना गया है, ऐसा भरद्वाज का अनुवचन है। वह सूर्य भी जो अग्नि का पुत्र कहा जाता है, वैश्वानर अग्नि के तुल्य ही रश्मिप्रसार वाला माना गया है।

(अहोरात्रवाद-2/55)

उपर्युक्त उल्लेख से ज्ञात होता है कि वैश्वानर अग्नि का पुत्र ही केतु कहलाता है तथा सर्वप्रथम केतु ही उत्पन्न होता है, फिर वह इन्द्र आदि द्वादश आदित्यों का सम्पर्क प्राप्त कर स्वयं ही सूर्य के रूप में अपने को परिणत कर लेता है। इस प्रकार सूर्य की उत्पत्ति पृथ्वी की अपेक्षा परवर्ती ही सिद्ध होती है।

4. विश्वकर्मा द्वरा प्रतिपादित सिद्धान्त

विश्वकर्मा द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त के उल्लेख तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक एवं ताण्ड्य महाब्राह्मण में उपलब्ध होते हैं। इसके अनुसार विश्वकर्मा यह प्रतिपादित करते हैं, कि जैसे शिशु की उत्पत्ति के समय सिर एवं पैर गर्भ से ही युगपत् विद्यमान होते हैं, वैसे ही त्रैलोक्य के तीनों लोक भी युगपत् ही उत्पन्न होते हैं। द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक एवं पृथ्वी लोक की उत्पत्ति में आनुक्रमिकता नहीं है, अतः इनमें पौर्वापर्य की कल्पना तो की ही नहीं जा सकती। इस आधार पर यही कहा जा सकता है कि द्यावापृथिवी एक साथ उत्पन्न हुए है। जैसा कि कहा भी है-

''द्यावापृथिवी एक साथ ही विद्यमान थे। वे वियत् (शून्य में विद्यमान) अनियन्त्रित स्थिति वाले बोले- हम साथ साथ यज्ञोपयोगी बनें। तब इस द्यावा पृथिवी का जो यज्ञिय अंश था, वह उसमें सन्निहित हो गया। वही इस चन्द्रमा में कृष्ण रूप से विद्यमान है। (तै.सं.5/23,तै.प्रा.1/1/3, ताण्डय. 7/10)

उपर्युक्त श्रुति से पृथ्वी एवं चन्द्रमा में सजातीयत्व प्रमाणित होता है, न कि पृथ्वी एवं सूर्य का सजातीयत्व सिद्ध होता है। और भी, अन्यत्र चन्द्र के अन्तरिक्षवर्ती सुने जाने से इस विषय में पृथ्वी एवं सूर्य का वियत् (अन्तरिक्ष या आकाश) में ही वियत्त्व (अन्तरिक्षवर्त्तित्व) उपगत होता है। या फिर ऐसा भी हो सकता है कि सृष्टि के आदि में चन्द्रमा एवं पृथिवी की युगपद् विद्यमानता रही हो।

इस विषय में कुछ विद्वान् यह भी कहते हैं, कि चन्द्रमा सोम के प्राधान्य के कारण अन्नमय है तथा सूर्य अग्नि के प्राधान्य के कारण अन्नाद रूप है। और, जैसे लोक में अन्नाद प्राणियों की उत्पत्ति से पूर्व अन्न उत्पन्न होता है, वैसे ही सूर्योत्पत्ति से पूर्व चन्द्रोत्पत्ति का भी औचित्य लक्षित होता है। ऐसा मानने पर चन्द्रमा एवं पृथिवी की युगपत् स्थिति को स्वीकार करने में भी दोष नहीं मानना चाहिए।

(शेष अगले अंक में)